हम किस देश के वासी है

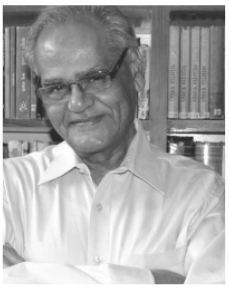

रमेश उपाध्याय

हम किस देश के वासी है

हाँ, सर, हिंसा तो हुई थी। लेकिन उस तरह नहीं, जिस तरह मैनेजमेंट और मीडिया बता रहे हैं। दोनों ने मिलकर यह कहानी बनायी है कि एक वर्कर ने अपनी शॉप के ओवरसियर के साथ बदसलूकी की। मैनेजमेंट ने उस वर्कर को सस्पेंड कर दिया। इस

पर यूनियन के नेताओं और लगभग सात सौ मेंबरों ने पर्सनल मैनेजर के दफ्तर में जाकर उसे धमकाया कि वर्कर का सस्पेंशन वापस लो, नहीं तो तुमको यहीं खत्म कर देंगे। मैनेजर ने उनकी बात नहीं मानी, तो उन्होंने मैनेजर को गोली मार दी और भाग गये। कंपनी अपने कारखाने में ऐसी हिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। इसलिए उसने यूनियन के नेताओं और मेंबरों को - यानी कुल मिलाकर सात सौ से ज्यादा वर्करों को - बर्खास्त कर दिया है। लेकिन हिंसक और हत्यारे हो चुके वर्कर कारखाने पर हमला कर सकते हैं, इसलिए सरकार ने कारखाने की हिफाजत के लिए भारी तादाद में पुलिस और दूसरे बल तैनात कर दिये हैं। कारखाने में तालाबंदी कर दी गयी है और पुलिस अपराधियों के साथ सख्ती से निपट रही है। लेकिन उनमें से कुछ ही पकड़े जा सके हैं, बाकी भाग गये हैं। उनकी तलाश की जा रही है।

मैं तो, सर, उस दिन कारखाने में था ही नहीं। जिस समय यह घटना घटी, मैं दिल्ली में अपने घर पर था। मुझे रात वाली शिफ्ट में काम पर जाना था, इसलिए आराम से माँ और पत्नी के साथ शाम की चाय पी रहा था और अपने बच्चों से हँस-बोल रहा था। अचानक मेरे साथ काम करने वाले एक वर्कर का फोन आया कि कारखाने में कुछ गड़बड़ हो गयी है। मैनेजमेंट ने यूनियन के सारे के सारे नेताओं और मेंबरों के खिलाफ थाने में नामजद रिपोर्ट दर्ज करायी है और हम सबके नाम, पते, फोन नंबर वगैरह पुलिस को दे दिये हैं। पुलिस ने कारखाने से तो कई वर्करों को गिरफ्तार किया ही है, वह उनके घरों में भी जाकर छापे मार रही है। इसलिए कारखाने मत आओ, अपना मोबाइल बंद कर दो, घर से भागकर कुछ दिनों के लिए कहीं छिप जाओ और घर के लोगों को सख्त ताकीद कर जाओ कि जब तक खतरा टल न जाये, तुम्हारे बारे में किसी से बात न करें, किसी को कुछ भी न बतायें।

इसलिए, सर, मैं उसी दिन से इधर-उधर छिपता फिर रहा हूँ। आज किसी तरह छिपता-छिपाता यहाँ तक आया हूँ। मैं आपका पुराना छात्र हूँ। आपका प्रिय विद्यार्थी रहा हूँ। आपका स्नेह और आशीर्वाद मुझे हमेशा मिलता रहा है। आज मैं आपसे एक सहायता माँगने आया हूँ। आपके कई मित्र मीडिया में हैं। प्लीज, उनसे कहिए कि मैनेजमेंट का ही नहीं, वर्करों का पक्ष भी सामने लायें।

जी, सर! बिलकुल, सर! मैं आपको शुरू से पूरी बात बताता हूँ। यह तो आप जानते ही होंगे कि अब इस कारखाने की मालिक पूरी तरह विदेशी कंपनी हो चुकी है। उसने शुरू में यह कारखाना भारत सरकार के सहयोग से खोला था। सरकार की हिस्सेदारी ज्यादा थी, इसलिए यह कारखाना पब्लिक सेक्टर वाले दूसरे कारखानों जैसा ही था। ज्यादातर वर्कर स्थायी नौकरी वाले होते थे। वेतन अच्छे थे। भत्ते और बोनस वगैरह

सब नियमानुसार मिलते थे। सेवा की शर्तें और काम की परिस्थितियाँ, आज की-सी एडवांस्ड टेक्नोलॉजी के न होने पर भी, आज के मुकाबले बहुत-बहुत बेहतर थीं।

सर, मेरे चाचाजी मुझसे पहले इस कारखाने में काम करते थे। मैं जब सात-आठ साल का था, तभी से अपने माता-पिता के साथ उनके घर जाया करता था। चाचाजी मैकेनिकल इंजीनियर थे और काफी सीनियर अफसर थे। उन्हें कंपनी की अफसर कॉलोनी में बँगले जैसा मकान मिला हुआ था। मकानों के बीच साफ-सुथरी चौड़ी सड़कें थीं। हरे-भरे पार्क थे। बच्चों के लिए स्कूल और खेलने-कूदने की जगहें थीं। शादी-ब्याह जैसे समारोहों के लिए एक सामुदायिक भवन था। अफसरों का एक क्लब था। कॉलोनी का अपना अस्पताल था। अपनी डिस्पेंसरी थी। अपना मनोरंजन केंद्र था। मेरे पिताजी भी दिल्ली में एक बड़े सरकारी अफसर थे, पर उनके भी ठाठ चाचाजी के-से नहीं थे।

अफसर कॉलोनी के आसपास ही वर्कर कॉलोनियाँ थीं, सर! उनके मकान छोटे थे, क्वार्टरनुमा, लेकिन वे भी साफ-सुथरे थे। उनके आसपास भी अफसर कॉलोनी जैसी ही सुविधाएँ थीं। सबसे अच्छी बात मुझे यह लगती थी, सर, कि वहाँ अफसरों और वर्करों के बीच दूरियाँ और भेदभाव कम थे। दोनों की वर्दी एक जैसी होती थी। उनको सिर्फ उनकी टोपी के अलग रंगों से पहचाना जाता था। मसलन, वर्कर की टोपी नीली है, तो अफसर की पीली। कारखाने और बस्तियों के बीच कंपनी की बसें चलती थीं, जिनमें अफसर और वर्कर सब साथ बैठकर आते-जाते थे। कारखाने के अंदर कैंटीन सबके लिए एक-सी होती थी, जहाँ सबको एक जैसा बढ़िया खाना मिलता था। और इतना सस्ता कि समझिए, मुफ्त। कारखाने के अंदर भी स्वास्थ्य केंद्र होते थे, जिनमें अफसर हो या वर्कर, सबको एक जैसा बढ़िया इलाज मिलता था। किसी दुर्घटना में कोई हताहत हो जाये, तो उसका मुआवजा मिलता था। कोई मर जाये, तो उसके परिवार के किसी एक व्यक्ति को अनुकंपा के आधार पर नौकरी दी जाती थी।

और, सर, सबसे बड़ी बात यह कि वर्करों की अपनी यूनियन हुआ करती थी। हजारों परमानेंट वर्करों की यूनियन कितनी बड़ी, कितनी मजबूत और कितनी ताकतवर होगी, आप अंदाजा लगा सकते हैं। यूनियन के नेता कंपनी के बेताज बादशाह हुआ करते थे। उनके एक इशारे पर 'गो स्लो', 'टूल डाउन' या 'काम बंद' हो जाता था। इसलिए मैनेजमेंट आम तौर पर यूनियन से पंगा नहीं लेता था और वर्करों की ज्यादातर माँगें मानकर उनको खुश रखने की कोशिश करता था। इसीलिए, सर, इस कंपनी के वर्कर 'हैप्पीली एंप्लॉयड विद हाइ मॉरेल' वाले वर्कर कहलाते थे। यूँ

समझिए, सर, कि वर्करों के लिए यह सर्वोत्तम कंपनियों में से एक थी। मुझ जैसे लाखों नौजवानों का सपना होता था कि इस कंपनी में नौकरी मिल जाये।

चाचाजी को मैंने अपनी यह इच्छा बतायी, तो बड़े खुश हुए। बोले, "ठीक है, तुम अपनी पढ़ाई पूरी कर लो। कंप्यूटर साइंस पढ़ ही रहे हो, आराम से नौकरी मिल जायेगी। इस कंपनी में आगे बढ़ने और ऊपर चढ़ने का बहुत स्कोप है।" मेरे पिताजी भी राजी थे। वे जीवित रहते और मैं चाचाजी के बताये रास्ते पर चल पाता, तो मैं इस कारखाने में वर्कर नहीं, अफसर होता। लेकिन पिताजी को डेंगू हुआ और वे अचानक गुजर गये। विधवा माँ, छोटे भाई और छोटी बहन की जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी। उसके बाद का हाल तो आप जानते ही हैं, सर! आपने मुझे समझाया था कि पढ़ाई मत छोड़ो, लेकिन मजबूरी थी, सर! मुझे पढ़ाई छोड़कर नौकरी करनी पड़ी थी। दरअसल चाचाजी ने मुझसे कहा था, "वैसे मैं भी तुम्हें यही सलाह देता कि पढ़ाई मत छोड़ो, लेकिन जमाना बदल रहा है। कंपनी का निजीकरण होने जा रहा है और मैं रिटायर होने वाला हूँ। अभी तो मैं तुम्हें अपने कारखाने में कहीं न कहीं फिट करा दूँगा। बाद में न जाने क्या हो। इसलिए फिलहाल वर्कर के रूप में काम शुरू करो। आगे का कैरियर बाद में बनाते रहना।"

कारखाने में, सर, ऐसे कई काम होते हैं, जिन्हें करने के लिए ज्यादा पढ़ा-लिखा और प्रशिक्षित होना जरूरी नहीं होता। फिर, अब मशीनें भी ऐसी आ गयी हैं कि उनसे काम लेना सिखाकर किसी को भी उन पर लगा दो। सो मुझे आसानी से काम मिल गया। मुझे याद है, सर, मैं नौकरी मिलने की खुशखबरी लेकर आपके पास आया था, तो आपने कहा था, "क्रांतिकारी वर्ग का सदस्य बनने पर बधाई!"

लेकिन, सर, तभी दुनिया बदलने लगी और इतनी तेजी से बदली कि जैसे फिल्म में चल रहा सतयुग का सीन अचानक घोर कलियुग के सीन में बदल जाये। कारखाने में भारत सरकार का हिस्सा कम होते-होते खत्म हो गया और विदेशी कंपनी उसकी पूरी मालिक बन गयी। कारखाना यहीं रहा, ज्यादातर अफसर भी यहीं के रहे, वर्कर तो सारे के सारे यहीं के रहे, लेकिन मालिक विदेशी हो गये। कंपनी का नाम नहीं बदला, कारखाने का नाम नहीं बदला, उसमें बनने वाली कारों के नाम नहीं बदले, लेकिन बाकी सब कुछ बदल गया। मैनेजमेंट में ज्यादातर लोग पहले वाले देशी लोग ही रहे, लेकिन कुछ विदेशी भी आ गये। वे अपने साथ नयी नीतियाँ तो लाये ही, वर्करों पर निगरानी रखने के लिए अपने लोग भी लेकर आये, जो वर्करों से काम लेने वाले भारतीय ओवरसियरों के साथ बड़ी सख्ती से पेश आते थे। बदले में ओवरसियर वर्करों पर सख्ती करने लगे। वर्कर यूनियन ने इसका विरोध किया, तो मैनेजमेंट ने कहा कि

अब यहाँ पब्लिक सेक्टर वाले तौर-तरीके नहीं चलेंगे। नेतागीरी करनी है, तो कारखाने के बाहर और ड्यूटी के वक्त के बाद करो। कारखाने के अंदर तुम नेता नहीं, सिर्फ वर्कर हो।

अभी तक बेताज बादशाह रहे वर्कर यूनियन के नेताओं को यह कैसे बर्दाश्त होता, सर वे विरोध-प्रदर्शन करते हुए धरने पर बैठ गये। मैनेजमेंट ने पुलिस बुला ली। सरकार का रुख-रवैया भी बदल गया था। उसने पुलिस को वर्करों के साथ सख्ती से निपटने के आदेश दे दिये। सो पुलिस आयी और शांतिपूर्वक धरना-प्रदर्शन कर रहे वर्करों पर लाठियाँ बरसाने लगी। वर्करों ने ईंट-पत्थरों से जवाब दिया, तो उसने गोली चला दी। कई वर्कर मारे गये। इस दमन के विरोध में पूरे कारखाने में वर्करों ने हड़ताल कर दी।

मगर कंपनी ने परवाह नहीं की। उसने कारखाने में तालाबंदी करा दी। हड़ताल लंबी चलने से उसे भारी नुकसान होने वाला था, लेकिन वह हाल के नुकसान की नहीं, बाद के फायदे की सोच रही थी। तालाबंदी के दौरान ही उसने कारखाने के बहुत सारे काम की आउटसोर्सिंग कर डाली। कारों के कई कंपोनेंट्स बाहर से बनवाने के ठेके दे दिये। ऐसे और ठेकों को पाने के लिए दिल्ली और आसपास के शहरों में कारों के पुरजे और दूसरी चीजें बनाने वाली छोटी-बड़ी इकाइयाँ देखते-देखते कुकुरमुत्तों की तरह उग आयीं। हड़ताल पर बैठे वर्करों ने जब सुना कि कंपनी कारखाने के अंदर होने वाले कई काम बाहर से ठेके पर कराने जा रही है, तो उनमें दहशत फैल गयी कि इससे तो उन कामों को करने वाले वर्कर बेकार हो जायेंगे। उनकी छँटनी हो जायेगी। नतीजा यह हुआ कि हड़ताल टूट गयी। वर्कर यूनियन को मैनेजमेंट की कई नयी और कड़ी शर्तें मानने को मजबूर होना पड़ा। यूँ समझिए, सर, कि यहाँ से वर्कर यूनियन की कमर तोड़े जाने का एक सिलसिला शुरू हुआ।

जी, सर, उसकी कमर बाजारवाद ने भी तोड़ी। भारत सरकार ने दुनिया भर की दूसरी कार कंपनियों के लिए देश के दरवाजे खोल दिये। सो यहाँ धड़ाधड़ उनके कारखाने खुलने लगे। मेरा खयाल है, सर, भारत सरकार के साथ उन्होंने पहले ही सौदा कर लिया होगा कि वह अपने अंदरुनी बाजार में कारें बिकवाने का भी इंतजाम करे। दुनिया भर में घाट-घाट का पानी पीने वाली मल्टीनेशनल कंपनियाँ क्या यह नहीं जानती होंगी कि यहाँ कारों का बहुत बड़ा बाजार नहीं है? देश की ज्यादातर आबादी तो गाँव-देहात में रहती है और गरीब है, सो वह तो कारें खरीद नहीं सकती। कारें खरीदते हैं बड़े लोग। लेकिन उनकी संख्या इतनी कम है कि उनसे कोई बड़ा बाजार बनता नहीं। रहा मध्यवर्ग, सो वह वैसे तो बहुत बड़ा है, लेकिन एक तो उसके पास इतना पैसा नहीं कि कारें खरीद सके और दूसरे, उसमें ज्यादातर लोग यह मानकर चलते हैं

कि चादर जितनी लंबी हो, उतने ही पैर पसारने चाहिए। मगर कंपनियाँ तो पहले ही मार्केट रिसर्च करा लेती हैं, सर! उन्होंने पहले ही सोच लिया होगा कि यही वर्ग उनकी कारों का खरीदार हो सकता है। भारत सरकार को भी उन्होंने यह बात समझा दी होगी।

इसीलिए, आप देखें सर, इन कंपनियों के आते ही कई चीजें एक साथ हुईं। एक तरफ सरकार के पे कमीशन ने अचानक लोगों के वेतन इतने बढ़ा दिये कि उनकी जेबें फूल गयीं और उनकी समझ में नहीं आया कि इतने पैसे का क्या करें! दूसरी तरफ पूरा मास मीडिया कंज्यूमर कल्चर फैलाने के लिए फिल्मों, सीरियलों और विज्ञापनों के जरिये मध्यवर्ग को यह सपना दिखाने लगा कि सुखी जीवन के लिए अपने पास अपनी कार तो होनी ही चाहिए। तीसरी तरफ कार-कंपनियाँ इतनी आसान किस्तों पर नयी से नयी और महँगी से महँगी कारें मुहैया कराने लगीं कि आदमी सोचने लगा, वेतन तो बढ़ ही गया है, कार ले लेते हैं, किस्तें आराम से चुका देंगे!

इन्हीं सब चीजों का नतीजा था, सर, कि इस देश में देखते-देखते कारों का एक बड़ा बाजार बन गया और वह दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। भारत सरकार पूरी तरह बाजारवादी हो गयी। कार-कंपनियाँ देश को किस तरह लूट रही हैं, कारों ने हमारी सड़कों और आबादियों का क्या बुरा हाल बना दिया है, उनमें कितना ईंधन बेकार फुँक रहा है, उनसे कितना प्रदूषण फैल रहा है, उनके कारण नये-नये अपराध और भ्रष्टाचार के मामले कितने बढ़ गये हैं, इन सब चीजों की तरफ से आँखें मूँदकर सरकार कारों का बाजार बढ़ाती रही।

सरकार ने यह भी नहीं देखा कि कारों के कारखानों के वर्करों के साथ क्या हो रहा है! सर, होना तो यह चाहिए था कि कारों की बिक्री बढ़ने के साथ-साथ वर्करों की संख्या भी बढ़ती, उनकी तनख्वाहें भी बढ़तीं, उनके काम की कदर भी बढ़ती; लेकिन हुआ इसका उलटा। कई कार-कंपनियों के आ जाने से उनके बीच होड़ शुरू हो गयी - किसकी कार बेहतर है और साथ ही औरों से कम कीमत की भी। सो कारों की कीमत कम रखना जरूरी हो गया। लेकिन, सर, कोई कंपनी यह काम घाटा उठाकर तो करेगी नहीं। अपना मुनाफा तो उसे चाहिए ही चाहिए। बल्कि वह लगातार बढ़ना भी चाहिए। एक तरफ दूसरी कंपनियों के साथ होड़, दूसरी तरफ ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की दौड़। कंपनियों के पास इसका एक ही फार्मूला है - बैटर, फास्टर, चीपर। बैटर, मतलब, बेहतर क्वालिटी देने वाली टेक्नोलॉजी लाओ। फास्टर, मतलब, ज्यादा तेज चलने वाली मशीनें लगाओ। चीपर, मतलब, वर्करों से सस्ते में काम कराओ।

इसलिए, सर, हुआ यह कि हमारी वाली कंपनी ने दूसरी कंपनियों से कंपीट करने के लिए पहली दो चीजों पर तो खूब पैसा लगाया, लेकिन तीसरी चीज पर - यानी वर्करों पर - होने वाले खर्च को घटाने की ठान ली। इसका एक तरीका है, सर, आउटसोर्सिंग। कारखाने में होने वाले कामों को बाहर से ठेके पर कराया जाना बहुत सस्ता पड़ता है, सर! ये काम छोटे-छोटे बी और सी ग्रेड के कारखानों में या ऐसे वर्कशॉपों में होते हैं, जिनका कोई ग्रेड ही नहीं होता। बड़े ठेकेदार बड़ी कंपनियों के काम का ठेका ले लेते हैं और उस काम के कई हिस्से छोटे ठेकेदारों को दे देते हैं। फिर ये छोटे उप-ठेकेदार उनमें से कई काम आगे और भी छोटे यानी उप-उप-ठेकेदारों से कराते हैं। और यह सिलसिला वहाँ तक पहुँचता है, जहाँ किसी गंदी-सी जगह में, टीन के शेड के नीचे, पुरजों की ढलाई वगैरह का काम होता है। ये, सर, कारखाने नहीं, छोटे-छोटे वर्कशॉप होते हैं, जिनका कोई नाम नहीं होता। उन पर कोई साइनबोर्ड नहीं होता। उनका बस एक मालिक होता है और थोड़े-से मजदूर, जिनसे बहुत ही कम पैसा देकर बहुत ही ज्यादा काम लिया जाता है। ये बेहद गरीब और मजबूर किस्म के मजदूर होते हैं, जो सौ-पचास रुपये की दिहाड़ी पर दस-बारह घंटों तक काम करते हैं। कई बार तो उनसे लगातार कई-कई दिन तक काम कराया जाता है, जिसे करते-करते वे बेहोश भी हो जाते हैं। उनकी हालत बँधुआ मजदूरों की-सी होती है। वे बात-बात पर गालियाँ और मार खाते हैं। भूखे-प्यासे काम पर लगाये रखे जाते हैं। लेकिन इतने मजबूर होते हैं कि काम छोड़कर भाग भी नहीं सकते। भागकर जायेंगे कहाँ?

कोई सोच सकता है, सर, कि बड़ी-बड़ी नामी मल्टीनेशनल कंपनियों की शानदार कारों में इस तरीके से बनवाये गये कंपोनेंट्स लगे होते हैं? और यह तो शायद ही कोई सोचता हो कि बड़े कारखानों में बेहतर वेतन और सुविधाएँ पाने वाले वर्करों को आउटसोर्सिंग के जरिये नौकरी से निकालकर कंपनियाँ अपना कितना बड़ा खर्च बचा लेती हैं, और चीपर लेबर से काम कराकर अपना मुनाफा कितना बढ़ा लेती हैं!

लेकिन, सर, इसका मतलब यह नहीं है कि कंपनी कारों के कंपोनेंट्स बाहर से बनवाती है और अपने कारखाने में सिर्फ उन सबको जोड़कर कारें तैयार करा देती है। ऐसा होता, तो कार-कंपनियाँ इतने बड़े-बड़े कारखाने न लगातीं। उनके अपने कारखानों में भी बहुत सारा काम होता है, सर! तरह-तरह का काम, अलग-अलग जगहों पर, जिनको हम 'प्लांट' और 'शॉप' कहते हैं। हमारी वाली कंपनी के तीन-तीन प्लांट हैं और उनमें कई-कई शॉप्स हैं। जैसे-टूल शॉप, डाई शॉप, प्रेस शॉप, वेल्ड शॉप, मशीन शॉप, पेंट शॉप, इंजन शॉप, एसेंबली शॉप। फिर फाइनल इंस्पेक्शन, क्वालिटी

एश्योरेंस, मेंटेनेंस, सेल्स और डिस्पैच वगैरह के सैकड़ों काम होते हैं, जिनके लिए हजारों वर्करों की जरूरत होती है।

हमारी वाली कंपनी का निजीकरण होने के पहले प्रोडक्शन प्रोसेस में लगने वाले सारे वर्कर स्थायी नौकरी वाले होते थे और साफ-सफाई या माल की ढुलाई जैसे कामों में लगने वाले वर्कर अस्थायी नौकरी पर या ठेके पर काम करने वाले। स्थायी वर्करों को अपने वेतन के साथ-साथ कई सुरक्षाएँ और सुविधाएँ पाने और अपनी यूनियन बनाने का भी अधिकार था, जो अस्थायी वर्करों को नहीं था। निजीकरण के बाद कंपनी ने शायद यह सोचा कि स्थायी वर्करों को निकालकर उनकी जगह अस्थायी वर्कर रखे जायें, तो वर्करों पर होने वाला बहुत बड़ा खर्च तो बचेगा ही, अस्थायी वर्करों को यूनियन बनाने का अधिकार न होने से कारखाने में हड़ताल वगैरह होने का अंदेशा भी नहीं रहेगा। लेकिन स्थायी वर्करों को वह अस्थायी वर्करों की तरह जब जी चाहे नहीं निकाल सकती थी। इसलिए उसने वी.आर.एस. का, माने वॉलंटरी रिटायरमेंट स्कीम का, चक्कर चलाया। कुछ स्थायी वर्कर उस झाँसे में आ भी गये और स्वेच्छा से सेवानिवृत्त हो गये। लेकिन वर्कर यूनियन के नेताओं ने उन्हें वी.आर.एस. का मतलब समझाया - "वी आर ऐस!" यानी हम गधे हैं, जो छँटनी को रिटायरमेंट समझ रहे हैं। अब कोई वर्कर वी.आर.एस. नहीं लेगा।

तब, सर, कंपनी समझ गयी कि यूनियन को खतम किये बिना चीपर लेबर मिलना मुश्किल है। उसने देखा कि यूनियन के नेताओं में ज्यादातर पुराने लोग हैं। उसने उन पर दबाव डालना शुरू कर दिया कि रिटायरमेंट लो और जाओ। वे राजी नहीं हुए, तो उन्हें तरह-तरह से सताना शुरू कर दिया, ताकि वे तंग आकर रिटायरमेंट ले लें। नेताओं ने इस चाल को समझकर वर्करों से कहा कि यह साजिश है और इसका विरोध करना चाहिए। लेकिन, सर, अब यूनियन में वह बात नहीं रह गयी थी कि नेताओं के एक इशारे पर वर्कर आंदोलन खड़ा कर दें। वर्कर सारे डरे हुए थे। कोई विरोध नहीं हुआ। यूनियन के नेता या तो नौकरी छोड़कर चले जाने को मजबूर कर दिये गये, या कोई चार्ज-वार्ज लगाकर नौकरी से निकाल दिये गये।

फिर, सर, यूनियन के मेंबरों की बारी आयी, जो कंपनी के स्थायी वर्कर थे। उनको भी बहला-फुसलाकर, या तंग करके, या सस्पेंड और डिसमिस करके निकाला जाने लगा। इतना ही नहीं, सर, कारखाने में अब गार्डों के रूप में गुंडे भी भरती कर लिये गये, जो वर्करों के साथ बदसलूकी करने लगे। जान से मार डालने तक की धमकियाँ देने लगे। लेकिन वर्कर समझ चुके थे कि स्थायी नौकरी छोड़कर चले जाना भी तो आत्महत्या के ही समान है, इसलिए हमारी हत्या होती है, तो हो जाये, हम नौकरी छोड़कर नहीं

जायेंगे। तब कंपनी ने अंदरखाने बुलाकर उनमें से कुछ को खरीद लिया और उनके जरिये पुरानी यूनियन तुड़वाकर एक नयी यूनियन बनवा दी। जल्दी ही हम लोगों की समझ में आ गया कि कंपनी ने हमारे साथ यह कैसा खेल खेला है। हम लोग नयी यूनियन को मैनेजमेंट की रखैल यूनियन कहने लगे।

और उस रखैल यूनियन ने हम सबकी तरफ से मैनेजमेंट के साथ यह समझौता कर लिया कि कंपनी छोड़कर गये या नौकरी से निकाले गये वर्करों की जगह नये स्थायी वर्कर रखने की माँग यूनियन नहीं करेगी। प्रोडक्शन प्रोसेस में नियमानुसार स्थायी वर्कर ही लगाये जायें, यह माँग भी यूनियन नहीं करेगी। कंपनी उसमें अस्थायी और ठेके पर काम करने वाले वर्कर भी लगा सकेगी। और यह चीज तो पहले से ही चली आ रही थी कि अस्थायी वर्करों को यूनियन का मेंबर बनने का अधिकार नहीं है।

वर्कर सब समझ रहे थे, सर, कि यह क्या हो रहा है। मगर अब किसी गलत चीज के खिलाफ तो क्या, सही चीज के पक्ष में बोलने की भी हिम्मत और ताकत किसी में नहीं रह गयी थी। नतीजा यह हुआ, सर, कि रखैल यूनियन बनने से पहले हमारे वाले प्लांट में तकरीबन चार हजार वर्कर स्थायी थे और डेढ़ हजार अस्थायी। समझौता होने के बाद जल्दी ही यह हिसाब उलटा हो गया। स्थायी वर्कर डेढ़-दो हजार ही रह गये, जबकि अस्थायी वर्कर तकरीबन चार हजार हो गये। जो स्थायी थे, उनमें से ज्यादातर अफसर टाइप लोग थे या रखैल यूनियन वाले नेता लोग। कानूनन प्रोडक्शन प्रोसेस में स्थायी वर्कर ही लगाये जाने चाहिए, लेकिन अब उनकी जगह अस्थायी और ठेके पर काम करने वाले वर्कर लगाये जाने लगे। स्थायी वर्करों को लगने लगा कि अब जल्दी ही कारखाने के सारे वर्कर अस्थायी हो जायेंगे।

आपने सही सवाल पूछा है, सर, कि आखिर वर्कर मैनेजमेंट के हाथ बिक कैसे गये! रखैल यूनियन बनाने को तैयार क्यों हो गये! साथी वर्करों के पाँवों पर ही नहीं, खुद अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारने की बेवकूफी उनसे कैसे हो गयी! बात यह है, सर, कि कंज्यूमर कल्चर मध्यवर्ग में ही नहीं फैली है, मजदूर वर्ग भी उसका शिकार हुआ है। पहले का वर्कर गरीबी में भी शान से स्वाभिमान के साथ जीता था, क्योंकि जितना कमाता था, उतने में ही गुजारा करने की कोशिश करता था। वह गर्मियों में सिर्फ पंखे से काम चला लेता था। फिर उसे लगने लगा कि घर में कूलर का होना जरूरी है। फिर इसी तरह फ्रिज का होना, टी.वी. का होना, पहले दुपहिया और आगे चलकर चौपहिया वाहन का होना भी जरूरी है। और बाजार में ये सब चीजें आसान किस्तों पर आसानी से मिल रही हों, तो वर्कर का मन भी क्यों न ललचाये? मगर इस लालच में पड़ने का नतीजा क्या हुआ? वर्कर की जो ताकत अपना आंदोलन चलाने में, उसके लिए

संगठित होकर संघर्ष करने में और खतरे उठाने में लगती थी, वह अब चीजों को खरीदने और उनकी किस्तें चुकाने में लगने लगी। नौकरी से होने वाली कमाई से किस्तें चुकाना मुश्किल होने लगा, तो वर्कर का जो समय आंदोलन, संगठन और संघर्ष में लगता था, ओवरटाइम करने में या नौकरी के साथ-साथ कोई पार्ट-टाइम काम करने में, या किन्हीं गलत और भ्रष्ट तरीकों से पैसा पैदा करने में लगने लगा। फिर जब नौकरी अस्थायी होने लगी, तो यह चिंता भी सताने लगी कि अगर नौकरी न रही, तो क्या होगा। जो चीजें ले रखी हैं, उनकी किस्तें कहाँ से चुकायी जायेंगी? सो किसी भी तरह से अपनी स्थायी नौकरी को बचाये रखना जरूरी हो गया। चाहे इसके लिए मैनेजमेंट की चापलूसी करनी पड़े, या अपने साथियों से विश्वासघात ही क्यों न करना पड़े।

लेकिन, सर, मैनेजमेंट की रखैल यूनियन भी बकरे की माँ ही थी। कब तक खैर मनाती? कंपनी को चीपर लेबर चाहिए और अस्थायी वर्कर उसे बहुत सस्ता पड़ता है। उसे नियमानुसार वेतन, भत्ता, बोनस वगैरह नहीं देना पड़ता। सालाना तरक्की नहीं देनी पड़ती। दीगर सुविधाएँ नहीं देनी पड़तीं। और वह इतना मजबूर भी होता है कि स्थायी वर्कर को मिलने वाली पगार का आधा-चौथाई मिलने पर भी काम करने को राजी हो जाता है। आठ घंटे की जगह दस-दस और बारह-बारह घंटे काम करता है, चाहे ओवरटाइम का कोई पैसा न मिले या नाममात्र का मिले। उससे कंपनी को लेबर ट्रबल होने का भी कोई खतरा नहीं है। वह तो गुलाम है, या मशीनों पर काम करने वाली खुद भी एक मशीन! सो कंपनी रखैल यूनियन को भी कब तक बर्दाश्त करती? उसके नेता और सदस्य स्थायी कर्मचारी थे। सोचते थे कि मैनेजमेंट की रखैल बनकर साथी वर्करों पर राज करेंगे। लेकिन जल्दी ही उनको भी लात मारकर निकाला जाने लगा। यूनियन ने इसका विरोध किया, तो मैनेजमेंट ने यूनियन को ही खतम कर दिया। कह दिया कि कंपनी यूनियन को नहीं मानती। इस कारखाने में कोई यूनियन नहीं है। यूनियन के नाम पर कोई आंदोलन-फांदोलन नहीं चलेगा। अगर चलाया गया, तो वह गैर-कानूनी होगा और उसमें भाग लेने वालों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की जायेगी।

तब रखैल यूनियन के नेता लेबर कमिश्नर के पास दौड़े। मगर उसने टका-सा जवाब दे दिया कि वह न तो उनको जानता है और न उनकी यूनियन को पहचानता है। पता चला कि नयी यूनियन का तो रजिस्ट्रेशन ही नहीं हुआ था। पता नहीं, सर, यह मैनेजमेंट की बदमाशी थी या उसके साथ लेबर कमिश्नर की मिलीभगत, नयी यूनियन, चाहे रखैल ही सही, बनने ही नहीं दी गयी थी। इस पर वर्करों को बड़ा गुस्सा

आया। सबने हाथ उठाकर ऐलान कर दिया कि हम अपनी नयी यूनियन बनायेंगे और वह इस बार सिर्फ स्थायी वर्करों की नहीं, बल्कि स्थायी-अस्थायी सब तरह के वर्करों की यूनियन होगी और वह मैनेजमेंट के बिस्तर में सोने वाली यूनियन नहीं होगी।

बात यह थी, सर, कि कारखाने में होने वाली तब्दीलियों ने जिंदगी में ऐसी अनिश्चितता और परेशानियाँ पैदा कर दी थीं कि स्थायी वर्कर अपना भविष्य या तो अस्थायी वर्करों के साथ जोड़कर देखें या मैनेजमेंट के साथ। स्थायी वर्करों को लगा कि हमारा भविष्य अस्थायी वर्करों के ही साथ बँधा हुआ है। उन्होंने फैसला किया कि जियेंगे तो साथ, मरेंगे तो साथ।

इस फैसले की एक बड़ी वजह यह थी, सर, कि कंपनी ने दोनों के बीच का एक बड़ा फर्क मिटा दिया था। उसने अपनी अफसर कॉलोनी तो रहने दी, लेकिन वर्कर कॉलोनियाँ, जो वर्करों की छँटनी की वजह से पहले ही आधी से ज्यादा खाली हो चुकी थीं, पूरी तरह खाली करा लीं और उन पर बुलडोजर चलवा दिये। इस तरह खाली हुई जमीनों में से कुछ अपने आइंदा इस्तेमाल के लिए अपने पास रखीं और बाकी बेहद ऊँची कीमतों पर बिल्डरों को बेच दीं। कॉलोनी में रहने वाले वर्कर बेघर हो गये। मगर नौकरी अभी बाकी थी, इसलिए कारखाने के पास या दूर, शहर में या आसपास के गाँवों में, जहाँ अस्थायी वर्कर रहते थे, वे भी किराये के मकान लेकर रहने लगे। यों समझिए, सर, कि कंपनी ने खुद ही उनके बीच की भौतिक दूरी मिटाकर उन्हें भौतिक और मानसिक रूप से एक-दूसरे के करीब ला दिया था।

अस्थायी वर्करों को तो कंपनी की कॉलोनी में क्वार्टर कभी मिलता ही नहीं था। वे आसपास की गंदी बस्तियों में या गाँवों में उन्हीं को किराये पर देने के लिए बनाये जाने वाले दड़बों में रहते थे। नौकरी अस्थायी और पगार कम होने के कारण उनमें से कुछ ही अपने बाल-बच्चों को अपने पास रख पाते थे। बाकी ज्यादातर अपने परिवारों को पीछे छूटे अपने गाँवों-कस्बों में छोड़कर यहाँ अकेले रहते थे। दड़बे जैसे कमरों में एक साथ कई-कई। अब स्थायी वर्कर भी अपने परिवारों के साथ उन दड़बों में रहने को मजबूर हो गये। पहले कंपनी की बसें उन्हें कॉलोनी से कारखाने लाती थीं और कारखाने से उनके घर पहुँचाती थीं। अब आप कभी उधर जाकर देखिए, हमारे वाले और आसपास के दूसरे कारखानों में काम करने के लिए वर्करों के झुंड के झुंड पैदल या साइकिलों पर आते-जाते दिखते हैं। उनमें से कई रोजाना दुर्घटनाओं के शिकार होते हैं। ऊपर से यह कि कारखाने में दस मिनट भी देर से पहुँचे, तो आधे दिन की पगार या दिहाड़ी कट जाती है! और यह सख्त नियम अस्थायी वर्करों पर ही नहीं, सर, स्थायी

वर्करों पर भी लागू होता है। तो वे दोनों क्यों न एक-दूसरे के निकट आयें? कैसे न एक-दूसरे का सुख-दुख समझें?

मैं खुद अपना अनुभव आपको बताता हूँ, सर! आप जानते हैं, मेरा घर दिल्ली में है। मैं अपनी मोटरबाइक से कारखाने जाता हूँ। समय पर पहुँचने के लिए दो घंटे पहले घर से निकलता हूँ। फिर भी कभी-कभी रास्ते में जाम वगैरह मिलने से देर हो जाती है। पहले, जब दस मिनट की देरी पर आधे दिन की पगार कट जाने का नियम नहीं था, मैं बाइक पर चलने वाला होने के गुमान में पैदल या साइकिल पर आने वाले वर्करों से खुद को थोड़ा अलग समझता था। लेकिन इस नियम ने मुझे अहसास कराया कि वर्कर बाइक वाला हो या साइकिल वाला, वर्कर ही है।

इधर हालात इतने खराब हो गये हैं, सर, कि वर्करों को अब इंसान नहीं, मशीन समझा जाता है। चुपचाप, बिना रुके, बिना थके चलने वाली मशीन। कायदे से ड्यूटी आठ घंटे की होनी चाहिए। पहले होती ही थी। लेकिन अब साढ़े आठ घंटे की होती है और उसमें वर्करों पर कड़ी निगरानी रखी जाती है। बड़ी सख्ती से काम लिया जाता है। मसलन, सुबह वाली शिफ्ट सात बजे शुरू होती है और नौ बजे तक लगातार काम चलता है। नौ बजे के बाद ठीक सात मिनट की छुट्टी मिलती है। पेशाब करने और चाय-पानी पीने के लिए सिर्फ सात मिनट! नौ बजकर सात मिनट से बारह बजे तक फिर लगातार काम। बारह से साढ़े बारह बजे तक आधे घंटे की खाने की छुट्टी। उसके बाद ढाई बजे तक काम और सात मिनट का ब्रेक। फिर दो बजकर सैंतीस मिनट से चार बजे तक लगातार काम। काम के दौरान कोई पानी पीने और पेशाब करने भी नहीं जा सकता है। इससे कभी-कभी काम करने की जगह पर ही वर्करों का पेशाब निकल जाता है। यह मैंने खुद अपनी आँखों से देखा है, सर!

पहले किसी वर्कर के घायल हो जाने पर कंपनी उसका इलाज कराती थी। हाथ-वाथ कट जाने पर मुआवजा देती थी। ऑन ड्यूटी मरने वाले वर्कर के परिवार के एक व्यक्ति को अनुकंपा के आधार पर नौकरी भी दी जाती थी। अब कुछ नहीं दिया जाता। अब किसी वर्कर का हाथ-वाथ कट जाता है, तो ओवरसियर गार्डों को बुलाकर उसे बाहर भिजवा देता है। साथ में काम करने वाले वर्कर सिर उठाकर उसकी तरफ देखने भी लगें, तो गाली देकर कहता है - मशीन पर लगा खून साफ करो और काम जारी रखो! यह भी मैंने अपनी आँखों से देखा है, सर!

और, सर, वर्करों की हालत ऐसी बना दी गयी है कि वे गालियाँ तो गालियाँ, मार खाकर भी चूँ नहीं करते। चुपचाप काम में लगे रहते हैं। बात यह है, सर, कि कंपनी जिस देश

की है, वहाँ से लाये गये अफसर यहाँ के लोगों को अपना गुलाम समझते हैं। वे ओवरसियरों से गाली देकर बात करते हैं और उन पर कड़ी नजर रखते हैं। ओवरसियर उनसे एक कदम और आगे बढ़कर वर्करों को गाली देते हैं और झापड़ भी मारते हैं। पहले कोई ओवरसियर ऐसा करने की जुर्रत नहीं कर सकता था। लेकिन अब विदेशी अफसर उन्हें बाकायदा सिखाते हैं कि वर्करों को अनुशासित करने के लिए उनके साथियों के सामने उन्हें गाली देना और एकाध झापड़ मारना जरूरी है।

इस सिलसिले में एक दिन एक बड़ी मजेदार घटना घटी, सर! एक विदेशी अफसर ओवरसियरों की क्लास लेते हुए उनको यहाँ के एक दुभाषिये अफसर के जरिये अनुशासन का यह पाठ पढ़ा रहा था। एक ओवरसियर ने हिंदी में अपने भारतीय अफसर से पूछा, "सर, यह कौन-सा तरीका है अनुशासन का?" भारतीय अफसर ने भी हिंदी में ही जवाब दिया, "अपमान के जरिये इंसान की इंसानियत को खत्म किया जाता है। उसकी हिम्मत और हौसले को तोड़ा जाता है। अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की उसकी सहज भावना को कुंद किया जाता है। उसके आत्मसम्मान को कुचला जाता है। उसे गूँगा गुलाम या जानवर बनाया जाता है।"

विदेशी अफसर हिंदी बिलकुल नहीं समझता था। उसने दोनों को हिंदी में बात करते देखा, तो अपनी भाषा में दुभाषिये अफसर से पूछा कि यह क्या हो रहा है। दुभाषिये अफसर ने उससे उसकी भाषा में कहा कि मैं इन लोगों को गाली देने का तरीका बता रहा था। फिर उसने ओवरसियरों की तरफ आँख मारी और कहा - अब तुम सब एक-एक करके साहब को गाली देकर दिखाओ। और, सर, उस दिन ओवरसियरों ने उस विदेशी अफसर को हिंदी में इतनी-इतनी और ऐसी-ऐसी चुनिंदा गालियाँ दीं कि साथी ओवरसियर मुँह नीचा करके हँसने लगे।

मगर ओवरसियरों को नौकरी करनी थी और उसके लिए जो पाठ उन्हें पढ़ाया गया था, उन्होंने पढ़ लिया। उनको हिंसा करना बाकायदा सिखाया गया और उन्होंने कारखाने में हिंसा करना शुरू कर दिया। और, सर, यहीं से पड़ा उस दिन की उस बड़ी हिंसक घटना का बीज।

हाँ, सर, नयी वर्कर यूनियन बनाने की बात तो रह ही गयी! नयी यूनियन में एक बिलकुल नयी चीज होने वाली थी, सर! पहले यूनियन के मेंबर स्थायी वर्कर ही हो सकते थे। मगर अब, जबकि स्थायी वर्करों के मुकाबले अस्थायी वर्करों की संख्या दूनी-तिगुनी हो गयी थी, उसी तर्ज पर नयी यूनियन बनाना बेकार था। इसलिए नयी यूनियन नये आधार पर बनाने का फैसला किया गया। नया आधार यह था कि जब

अस्थायी वर्कर वही, वैसा ही और उतना ही काम करते हैं, जो स्थायी वर्कर करते हैं, तो उन्हें भी स्थायी किया जाये और उन्हें भी उतनी ही तनख्वाह और वे सारी सुविधाएँ दी जायें, जो स्थायी वर्करों को दी जाती हैं।

स्थायी वर्करों के इस नये रुख से अस्थायी वर्कर बहुत खुश हुए। उनमें नया जोश और उत्साह भर गया। कल तक उनके जिन चेहरों पर हमेशा मुर्दनी छायी रहती थी, वे खिल उठे। बात यह है, सर, कि अस्थायी वर्करों के साथ ये विदेशी कंपनियाँ बड़ा ही क्रूर और अमानुषिक व्यवहार करती हैं। अस्थायी वर्कर को न तो कोई नियुक्ति-पत्र दिया जाता है, न कोई पे-स्लिप दी जाती है। बस, एक वर्दी दी जाती है और एक आइ-कार्ड यानी पहचान-पत्र दिया जाता है। जिस वर्कर को नौकरी से निकालना होता है, कंपनी के गार्ड आकर उसे उसके काम करने की जगह से पकड़ ले जाते हैं। कारखाने के गेट पर ले जाकर वे उसका आइ-कार्ड छीन लेते हैं, वर्दी उतार लेते हैं और लात मारकर गेट के बाहर कर देते हैं। उस वर्कर के पास कोई सबूत नहीं बचता यह साबित करने का कि वह इस कारखाने का वर्कर था।

काम करते-करते घायल हो जाने या मर जाने वाले अस्थायी वर्करों के साथ भी वे यही करते हैं। हमारे वाले कारखाने में भी यही हो रहा था, इसलिए अस्थायी वर्करों में जब यह आशा जगी कि यूनियन उन्हें अस्थायी से स्थायी वर्कर बनाने की माँग करने जा रही है, तो वे खुशी-खुशी यूनियन के मेंबर बनने और उसके लिए कुछ भी करने को तैयार हो गये।

दरअसल, सर, यह नियम कि अस्थायी वर्कर यूनियन के मेंबर नहीं बन सकते, कंपनियों के बड़े काम आता है। जब उनके किसी कारखाने की वर्कर यूनियन हड़ताल करती है, तो वे हड़ताल पर गये वर्करों की जगह अस्थायी वर्करों को रख लेते हैं और उनका काम चलता रहता है। कुछ स्थायी वर्कर ऐसे अस्थायी वर्करों को हड़ताल तोड़ने वाले दुश्मन समझते हैं, लेकिन इसमें उनका क्या दोष? आज लाखों वर्कर बेरोजगार भटक रहे हैं। किसी को कहीं काम मिलता है, तो चाहे जैसा भी काम हो, चाहे जैसी भी शर्तों पर कराया जाने वाला हो, वह उसे करना मंजूर कर लेता है। हर कंपनी के पास ऐसे बेरोजगार वर्करों की लंबी-लंबी लिस्टें होती हैं, जिनमें उनके नाम-पते दर्ज होते हैं। स्थायी वर्करों के हड़ताल पर जाते ही कंपनी उन्हें बुला लेती है।

इसमें एक बात यह भी है, सर, कि आजकल जो नयी मशीनें आ रही हैं, उन पर काम करने के लिए बहुत कुशल और अनुभवी वर्करों की जरूरत नहीं होती, इसलिए पुराने स्थायी वर्करों की जगह नये अनुभवहीन वर्कर रख लेने से कंपनियों का काम मजे में

चलता रहता है। वैसे नियम तो यह है कि प्रोडक्शन प्रोसेस में अस्थायी और ठेके या दिहाड़ी पर काम करने वाले वर्कर नहीं लगाये जा सकते। लेकिन कोई कंपनी इस नियम का पालन नहीं करती। सभी कंपनियाँ स्थायी वर्करों की जगह अस्थायी वर्करों को प्रोडक्शन प्रोसेस में लगाती हैं, क्योंकि वे सस्ते पड़ते हैं। उनकी योजना तो यह है कि प्रोडक्शन में लगे सारे ही स्थायी वर्करों को हटाकर उनकी जगह सब अस्थायी वर्कर ही लगा दिये जायें। हम स्थायी वर्करों को अपने सिर पर लटकी यह तलवार दिख रही थी, सर! इसीलिए हमने कंपनी की मर्जी के खिलाफ जाकर अस्थायी वर्करों को यूनियन का मेंबर बनाने पर जोर दिया।

बात यह है, सर, कि हम स्थायी वर्करों की हालत भी बहुत खराब हो गयी है। हम पर काम का बोझ बढ़ाने के साथ-साथ काम की रफ्तार भी इतनी बढ़ा दी गयी है कि काम करते-करते हमारी जान निकल जाती है। इस बात का अंदाजा आप यह देखकर लगा सकते हैं कि बीस साल पहले इस कारखाने में रोजाना सिर्फ बीस-पच्चीस कारें बनती थीं, जबकि अब रोजाना तेरह सौ पचास कारें बनती हैं। पहले हर वर्कर औसतन एक साल में बीस-बाईस कारें बनाता था, जबकि अब हर वर्कर औसतन पिचहत्तर कारें बनाता है। माना कि इस दौरान हमारी तनख्वाहें भी बढ़ी हैं, लेकिन काम की मात्रा और रफ्तार उनके मुकाबले कहीं ज्यादा बढ़ी है। सो इस बार, सर, हम लोगों ने इस मुद्दे पर लड़ाई लड़ने की ठानी कि हमें मशीन नहीं, इंसान समझा जाये। हम पर से काम का बोझ घटाया जाये।

यहाँ मुझे अपने बारे में कुछ कहना जरूरी लग रहा है, सर! आपके स्टडी सर्कल में बैठकर और आपकी बतायी हुई किताबें पढ़कर मैंने जो सुना-गुना था, उससे मैं कुछ रूमानी और आदर्शवादी ढंग से सोचने लगा था। कारखाने में नौकरी लगने पर मुझे लगा था कि मैं क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग में शामिल हो गया हूँ। लेकिन वहाँ के वर्करों और यूनियन के नेताओं को देखकर मैं समझ गया कि ये लोग व्यवस्था को बदलने वाले नहीं, बल्कि उससे तालमेल बिठाकर निजी लाभ उठाने की सोचने वाले लोग हैं। धरना-प्रदर्शन, जलसा-जुलूस या रैली-फैली में जोर-शोर से इंकलाब जिंदाबाद के नारे लगाने वाले, मगर निजी जीवन में उससे कोई वास्ता न रखने वाले। मैं उसके बारे में उनसे कुछ कहता, तो वे मेरी बात को किताबी या हवाई कहकर हँसी में उड़ा देते। धीरे-धीरे मैं भी उन बातों को भूलकर अपने निजी जीवन में व्यस्त हो गया। माँ, छोटे भाई-बहन, फिर पत्नी, फिर अपने बच्चे और ऐसी कठिन नौकरी कि आठ-नौ घंटे कारखाने में खटने और आने-जाने के लिए मोटरबाइक पर तीन-चार घंटे का कठिन

सफर करने के बाद तन-मन इतना थक जाता कि कुछ सोचने की भी ताकत न बचती।

अब, जबकि भाई और बहन अलग रहकर अपनी-अपनी जिंदगी जीने लगे हैं, मेरे बच्चे भी कुछ बड़े हो गये हैं, मेरी माँ और पत्नी ने मुझे घर-गृहस्थी की चिंताओं से थोड़ा मुक्त कर दिया है, मैं यूनियन वगैरह के काम को कुछ समय देने लगा हूँ। लेकिन, सर, क्या विडंबना है कि हम करने चलते हैं संघर्ष और हमें करने पड़ते हैं समझौते!

सो, जब हमने लड़ाई लड़ने की ठानी, तो पहला काम था उसके लिए नयी यूनियन बनाना। मतलब, यूनियन का बाकायदा रजिस्ट्रेशन कराना। मगर यह कोई आसान काम नहीं है, सर! कायदे से इसमें लेबर कमिश्नर को वर्करों की मदद करनी चाहिए। लेकिन पहली मुश्किल वही खड़ी करता है। उस तक सीधे नहीं, बल्कि उसके दफ्तर के बाबुओं और उन तक पहुँचाने वाले दलालों के जरिये ही पहुँचा जा सकता है। दलालों की दलाली और दफ्तर के बाबुओं को दी जाने वाली घूस कुल मिलाकर तकरीबन एक लाख रुपये बैठती है। अव्वल तो वर्करों के लिए इतनी बड़ी रकम जुटाना ही मुश्किल, फिर इस बात का खतरा कि दलाल या बाबू कंपनी तक यह खबर पहुँचा देंगे कि वर्कर नयी यूनियन बनाने जा रहे हैं। कंपनी ऐसी खबर मिलते ही फौरन दो काम करती है। एक तरफ तो यह कि वर्कर अपनी यूनियन बनवाने के लिए जितनी घूस और दलाली देते हैं, उससे कई गुनी ज्यादा घूस और दलाली वह यूनियन न बनने देने के लिए पहुँचा देती है। दूसरा काम वह यह करती है कि यूनियन के नेता बन सकने वाले वर्करों पर टूट पड़ती है और उन्हें फौरन लात मारकर कारखाने से बाहर निकाल देती है। इसकी सुनवाई कहीं नहीं होती। इसलिए नयी यूनियन अक्सर बन ही नहीं पाती। किसी तरह बन भी जाये, तो यह खतरा बना रहता है कि कंपनी यूनियन के नेताओं को खरीदकर अपनी जेब में रख लेगी और बिके हुए नेता वर्करों के खिलाफ कंपनी के लिए काम करने लगेंगे।

हम इन सब खतरों से वाकिफ थे, सर! इसलिए हमने मैनेजमेंट से छिपाकर यूनियन बनाने के बजाय उसे बताकर यूनियन बनाना ही ठीक समझा। जैसी कि उम्मीद थी, मैनेजमेंट ने पहले तो कड़ा रुख दिखाया कि यूनियन नहीं बनने दी जायेगी। लेकिन जब देखा कि वर्कर मानने वाले नहीं हैं, तो उसने शर्त लगायी कि यूनियन का किसी बड़े यूनियन-केंद्र या राजनीतिक दल से जुड़ना बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। मेरे विचार से तो, सर, हमें उसकी यह शर्त नहीं माननी चाहिए थी, लेकिन हमारे नेताओं ने यह शर्त मान ली। शायद मैनेजमेंट का खयाल था कि हमारी यूनियन किसी बड़ी यूनियन

या पार्टी की मदद के बिना नहीं बनेगी। लेकिन, सर, हमने आपस में ही चंदा जमा करके एक लाख रुपये से ज्यादा की घूस और दलाली देकर अपनी नयी यूनियन का रजिस्ट्रेशन करा लिया।

मगर नयी यूनियन के नेताओं ने अपनी समस्याओं पर बात करने के लिए मैनेजमेंट से मिलने का समय माँगा, तो उसने इनकार कर दिया। मतलब यह कि जाओ, हम नहीं सुनते तुम्हारी बात, तुम्हें जो करना हो कर लो! ऐसे में वर्करों के पास हड़ताल करने के सिवा क्या उपाय रह जाता है? सो हमने हड़ताल कर दी। हड़ताल लंबी चली। तकरीबन चार महीने। उससे कंपनी को भारी नुकसान हुआ। उत्पादन और बिक्री बंद हो जाने से ही नहीं, बाजार में उसके शेयरों के भाव गिर जाने से भी। लेकिन हड़ताली वर्करों की बात सुनने के बजाय उसने नुकसान उठाना बेहतर समझा। नयी यूनियन के नेताओं को बड़ी भारी कीमत पर खरीदकर और वर्करों को हिंसा के लिए उकसाकर पुलिस दमन के जरिये हड़ताल तुड़वाने की भी उसने खूब कोशिश की। मगर हमारे नये नेता मैनेजमेंट के इन सब हथकंडों से वाकिफ थे। वे खुद तो डटे ही रहे, उन्होंने वर्करों को भी बड़े से बड़े उकसावे के बावजूद हिंसक होने से रोके रखा। हड़ताल को उन्होंने अहिंसक सत्याग्रह में बदल दिया कि पुलिस बेबात लाठियाँ बरसाती है, तो खा लो, पर उत्तेजित बिलकुल मत होओ, एकदम शांत रहो।

आखिर मैनेजमेंट ने समझौते का हाथ बढ़ाने का नाटक किया और हम समझे कि हमारी जीत हो गयी है। लेकिन हड़ताल खत्म करके वर्कर ज्यों ही काम पर लौटे, उसने अपना रुख बदल लिया। उसने कहा कि एक ग्रीवांस कमेटी बना लो और उसके जरिये अपनी शिकायतें हमारे सामने लाओ। उस कमेटी में, जाहिर है, मैनेजमेंट के लोग भी रखे जाते और उनके जरिये मैनेजमेंट जो चाहता, वही करता और हमारी यूनियन बेकार हो जाती। सो हमारी यूनियन ने उसकी यह बेजा माँग नहीं मानी। लेकिन वह अपनी माँग पर अड़ गया। इससे तनाव बढ़ा और बढ़ता ही गया। कारखाने के मैनेजर और सरकारी लेबर अफसर अक्सर कारखाने के अंदर शॉप फ्लोर पर आते रहते थे और वे अच्छी तरह जानते थे कि तनाव बढ़ रहा है, पर उसे घटाने के लिए दोनों ने ही कुछ भी नहीं किया। मैनेजमेंट अपनी इस बेजा माँग पर अड़ा रहा कि जब तक यूनियन ग्रीवांस कमेटी बनाने को राजी नहीं होगी, वह यूनियन की माँगों पर विचार नहीं करेगा। जब उसने देखा कि यूनियन के नेता उसके दबाव में नहीं आ रहे हैं, तो थानों में उनके खिलाफ झूठे मामले दर्ज करा दिये। पुलिस ने हमारे नेताओं को धमकाना और परेशान करना शुरू कर दिया।

लेकिन हमारे नेता डरे नहीं, डटे रहे। तब मैनेजमेंट ने फूट डालो और राज करो की पुरानी चाल चली। कहा कि स्थायी वर्करों को अस्थायी वर्करों के मामले में बोलने का कोई कानूनी हक नहीं है और अस्थायी वर्करों को तो बोलने का ही हक नहीं है। हमारे नेताओं ने जवाब दिया कि कंपनी को भी प्रोडक्शन प्रोसेस में अस्थायी वर्करों को लगाने का कोई कानूनी हक नहीं है। नियम के मुताबिक या तो उसमें सारे स्थायी वर्कर ही लगाये जायें, या उसमें लगे अस्थायी वर्करों को स्थायी किया जाये। लेकिन, सर, कंपनियाँ कहाँ किसी नियम का पालन करती हैं! और ये मल्टीनेशनल कंपनियाँ तो कोई कायदा-कानून मानती ही नहीं। धड़ल्ले से गैर-कानूनी काम करती हैं और केंद्रीय सरकार, प्रादेशिक सरकार, लेबर कमिश्नर, पुलिस और प्रशासन को अपनी जेब में रखती हैं। घूस और दलाली देकर अपना काम निकालना तो उनके लिए मामूली बात है ही, उन्हें सरकारों को धमकाना भी आता है। प्रदेश की सरकार को धमकाती हैं कि हम अपना कारखाना यहाँ से उठाकर किसी और प्रदेश में ले जायेंगे। केंद्र की सरकार को धमकाती हैं कि हमें तंग किया गया, तो हम अपना कारोबार समेटकर इस देश से ही चले जायेंगे। इसलिए सरकारें उनसे डरती हैं। हाथ जोड़कर कहती हैं कि हे, माई-बाप, यह प्रदेश और देश आपके हवाले है। यहाँ के लोग आपके गुलाम हैं। इनके साथ आप कुछ भी करो, पर यहीं रहो!

लेकिन, सर, इस बार स्थायी वर्करों ने अस्थायी वर्करों के साथ बेमिसाल एकजुटता दिखायी। यह देखकर दूसरी कंपनियों के कारखानों में काम करने वाले वर्करों में भी जान आ गयी। उनके दबाव में उनकी यूनियनें भी सक्रिय हो गयीं। एक आंदोलन-सा उठने लगा कि वर्कर स्थायी हों या अस्थायी, उन्हें अपनी यूनियन बनाने का हक है। उन्हें अपनी यूनियन को किसी बड़े यूनियन-केंद्र और राजनीतिक दल से जोड़ने का भी हक है। उन्हें समान काम करने के लिए समान वेतन और दीगर फायदे पाने का हक है। उन्हें समान काम करने वालों में किया जाने वाला भेदभाव मंजूर नहीं है। और उन्हें अपनी मेहनत पर डाला जाने वाला वह डाका भी मंजूर नहीं है, जो वर्करों पर काम की मात्रा और रफ्तार बढ़ाकर डाला जाता है। जब मशीनों की रफ्तार बढ़ायी जा रही है, तो काम के घंटे घटाये जाने चाहिए।

यह देखकर मैनेजमेंट में खलबली मच गयी। लेकिन उसने खुद झुकने के बजाय वर्करों को ही झुकाने की ठान ली। सबसे पहले तो उसने उन अस्थायी वर्करों को निकाला, जो इस आंदोलन में शामिल थे, या जिन पर उसमें शामिल होने का उसे शक था। फिर उसने अपने ओवरसियरों से स्थायी वर्करों पर सख्त निगरानी रखने के लिए कहा। उनके जरिये यह फरमान जारी किया कि काम करते समय कोई वर्कर किसी से

बात नहीं करेगा। कोई वर्कर कुछ भी कहने के लिए मुँह खोलता, ओवरसियर आकर उसे माँ-बहन की गालियाँ देने लगता, चाहे वह कितना ही सीनियर वर्कर हो। विरोध करने पर वह गार्डों को बुला लेता, जो वर्कर को पकड़ ले जाते। गार्ड उसे पहले एक खाली कमरे में ले जाकर उसकी धुनाई करते और उसके बाद मैनेजर के पास ले जाते। मैनेजर तुरंत वर्कर को सस्पेंड करके बाहर का रास्ता दिखा देता। और, सर, उस दिन जो हिंसा हुई, वह वर्करों के साथ रोजाना की जा रही इस हिंसा का विरोध करने पर ही हुई थी।

पेंट शॉप के एक पुराने उम्मदराज वर्कर, जिन्हें उनके साथ काम करने वाले वर्कर आदर से बाबा कहते हैं, कुछ महीने पहले वी.आर.एस. लेकर चले गये थे। लेकिन फिर न जाने उन पर क्या मुसीबत आ पड़ी कि अब वे कारखाने में वापस काम करने आ गये हैं। वे ऐसे बहुत-से वर्करों में से हैं, जो स्थायी नौकरी छोड़कर जाते हैं और फिर मजबूर होकर नौकरी करने आते हैं, तो अस्थायी नौकरी पर रखे जाते हैं। बाबा को काम करते-करते बोलते रहने की पुरानी आदत है। अपने-आप से ही बातें करते रहते हैं। उस दिन भी वे यही कर रहे थे कि ओवरसियर आ धमका और उन पर दूसरे वर्करों से बात करने का आरोप लगाकर गाली-गलौज करने लगा। बाबा ने उसे बताया कि उन्हें तो काम करते-करते यूँ ही बड़बड़ाते रहने की आदत है। लेकिन उम्र में उनसे बहुत छोटे उस ओवरसियर ने उनकी जाति का नाम लेकर बड़ी अपमानजनक गाली दी। बाबा माँ-बहन की गालियाँ तो शायद बर्दाश्त कर लेते, क्योंकि सारे ही वर्कर अब ऐसी गालियों के आदी हो चुके हैं, लेकिन अपनी जाति का नाम लेकर दी गयी गाली उनसे बर्दाश्त नहीं हुई। उन्होंने तमतमाकर ओवरसियर को चाँटा मार दिया। ओवरसियर तो जैसे इसी बात का इंतजार कर रहा था। उसने फौरन गार्डों को बुला लिया। गार्ड बाबा को पकड़कर पर्सनल मैनेजर के पास ले गये। पर्सनल मैनेजर ने बाबा को सस्पेंड कर दिया।

यूनियन के नेताओं को पता चला, तो वे इस पर मैनेजमेंट से बात करने गये। बाबा का आदर करने वाले, उन्हें प्यार करने वाले उनके कुछ साथी वर्कर भी उनके साथ गये। नेता लोग मैनेजर के कमरे में जाकर बात करने लगे और बाकी दस-पंद्रह लोग कमरे के बाहर खड़े होकर मैनेजर के फैसले का इंतजार करने लगे। नेताओं की बात सुनकर मैनेजर बाबा का सस्पेंशन ऑर्डर वापस लेने को राजी हो गया। लेकिन फाइनल फैसला शायद वह नहीं ले सकता था। उसने किसी ऊपर वाले को फोन किया और वहाँ से कोई आदेश या निर्देश पाकर अपने फैसले से पलट गया। बोला कि

अनुशासनहीनता के लिए किसी को क्षमा नहीं किया जा सकता। बाबा का सस्पेंशन ऑर्डर वापस नहीं लिया जा सकता।

यूनियन के नेता मैनेजर से बहस करने लगे कि अगर बाबा का सस्पेंशन ऑर्डर वापस नहीं लिया जा सकता, तो उस ओवरसियर को भी सस्पेंड किया जाना चाहिए। तभी अचानक न जाने क्या हुआ कि दो वर्कर वहाँ आये और कमरे के बाहर खड़े वर्करों के देखते-देखते मैनेजर के कमरे में घुस गये। अंदर से गोली चलने और किसी के चीखने की आवाज आयी, तो बाहर खड़े वर्करों को लगा कि शायद यूनियन के नेताओं पर हमला हुआ है। वे उन्हें बचाने के लिए कमरे में घुसे, तो देखा कि उनसे पहले जो दो वर्कर उस कमरे में घुसे थे, वे तेजी से निकलकर बाहर जा रहे हैं और यूनियन के नेता उन्हें पकड़ने के लिए उनके पीछे दौड़ते हुए उनसे पूछ रहे हैं कि तुम लोग कौन हो, तुम्हें यहाँ किसने भेजा है?

मुझे फोन करके यह बात बताने वाले मेरे साथी ने बताया, सर, कि वे वर्करों की वर्दी में बाउंसर थे। बाउंसर समझते हैं आप? वे कंपनी के हथियारबंद गुंडे होते हैं, सर! उन्हें वर्करों की वर्दी पहनाकर वर्करों के बीच छोड़ दिया जाता है। वे वर्करों पर नजर रखते हैं। उनकी जासूसी करके मैनेजमेंट को रिपोर्ट करते हैं। कंपनी या मैनेजमेंट के विरोधी वर्करों को धमकाते हैं, उन्हें अलग ले जाकर मारते-पीटते हैं। किसी-किसी को जान से भी मार देते हैं।

लेकिन उस दिन, सर, वे मैनेजमेंट की एक सोची-समझी साजिश के तहत वहाँ आये थे। मैनेजमेंट ने बाउंसरों से अपने ही एक मैनेजर की हत्या करा दी और हत्यारा बना दिया यूनियन के नेताओं और मेंबरों को। मैनेजमेंट की बुलायी पुलिस वहाँ पहले से मौजूद थी। ज्यों ही यूनियन के नेता और बाबा के साथी वर्कर पर्सनल मैनेजर को गोली मारकर भाग रहे बाउंसरों का पीछा करते हुए दौड़े, पुलिस ने उन्हें घेरकर गिरफ्तार कर लिया।

अब मैनेजमेंट और मीडिया का कमाल देखिए, सर! दोनों ने इस घटना को एक सरासर झूठी कहानी बनाकर दुनिया के सामने पेश कर दिया है। कहानी यह बनायी गयी है कि यूनियन के नेताओं और मेंबरों ने मैनेजर के कमरे में घुसकर उसे मार डाला। लेकिन, सर, मैनेजमेंट और मीडिया बहुत ही बुरे कहानीकार हैं। उन्होंने सात सौ से ज्यादा वर्करों की भीड़ को मैनेजर पर हमला करने और उसे गोली मारने की कहानी गढ़ी है। इस कहानी को गढ़ते समय उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि कारखाने में, जहाँ वर्करों पर सख्त निगरानी रखी जाती है, और उन्हें काम के समय पानी पीने या

पेशाब करने के लिए भी नहीं जाने दिया जाता, सात सौ से ज्यादा वर्कर काम छोड़कर कैसे इकट्ठे हो गये? मैनेजर का कमरा आखिर कितना बड़ा था कि सात सौ से ज्यादा वर्कर उसमें एक साथ घुस गये? क्या उन सबने मैनेजर पर गोली चलायी? अगर हाँ, तो वह कुल मिलाकर कितनी गोलियों से मारा गया? कारखाने में आये वर्करों के पास एक साथ इतने हथियार कहाँ से आये, जबकि कारखाने के अंदर घुसते समय हर वर्कर की जामातलाशी ली जाती है? फिर, पुलिस को पहले से ही कैसे मालूम था कि आज कारखाने में ऐसी घटना घटने वाली है कि वह घटना से पहले ही कारखाने में मौजूद थी? और सात सौ से ज्यादा वर्करों की भीड़ के बीच ऐसा कौन था, जिसने तत्काल उस भीड़ में शामिल सबके नाम-पते नोट कर लिये और पुलिस में उनकी नामजद रिपोर्ट लिखवा दी?

कोई बुरे से बुरा कहानीकार भी, सर, ऐसी तर्कहीन कहानी नहीं गढ़ेगा। लेकिन लोग मानें या न मानें, इस गढ़ी हुई कहानी को पुलिस, प्रशासन, लेबर कमिश्नर, प्रदेश की सरकार और केंद्र की सरकार, सब सही मान रहे हैं। और हम वर्करों को एक मौका तक नहीं दिया गया है कि हम इसका खंडन कर सकें और बता सकें कि सच में उस दिन क्या हुआ था!

आपने उस घटना के बाद कारखाने के बाहर पहरा देती पुलिस की तस्वीरें देखी होंगी। वहाँ इतनी भारी तादाद में हथियारबंद पुलिस पहरा दे रही है कि लगता है, जैसे वर्करों की कोई बड़ी भारी फौज कारखाने पर हमला करने के लिए आने वाली है; जबकि वर्कर बेचारे अपनी जान बचाने के लिए अपने घर-परिवार छोड़कर भाग गये हैं। पुलिस उनके पीछे पड़ी है। कंपनी की वर्दी में जिसको भी देखती है या तलाशी लेने पर जिसके भी पास कारखाने का आइ-कार्ड पाती है, उसे पकड़ लेती है। इस तरह कई वर्कर पकड़े गये हैं। कई शायद मारे भी जा चुके हैं, क्योंकि पकड़े जाने के बाद से वे लापता हैं। किसी भी थाने में उनकी गिरफ्तारी दर्ज नहीं है। जो वर्कर अपने परिवार के साथ रहते थे, उनके घरों में घुसकर पुलिस उनके माँ-बाप और बीवी-बच्चों को मार-पीटकर पूछ रही है कि बताओ, वे भगोड़े कहाँ जा छिपे हैं!

मैं भी एक भगोड़ा बना दिया गया हूँ, सर! अपनी जान बचाने के लिए भागता फिर रहा हूँ। आप अपने किसी सच्चे और ईमानदार पत्रकार मित्र से कहिए कि वह सच का पता लगाये, उसे सामने लाये। कोई तो इस गढ़ी हुई कहानी पर सवाल उठाये! अगर हमारी बात सुनने वाला, हमारे सच को सामने लाने वाला, हमारे पक्ष में खड़ा होने वाला और हमारा साथ देने वाला इस देश में कोई नहीं है, तो आखिर हम कौन हैं और किस देश के वासी हैं?

और, सर, मुझे आपसे भी एक सवाल पूछना है : जब मैं आपको कारखाने में नौकरी मिलने की खुशखबरी सुनाने आया था, आपने मुझे क्रांतिकारी वर्ग का सदस्य बनने पर बधाई दी थी। क्या क्रांतिकारी वर्ग ऐसा होता है? इतना अकेला और असहाय?